गैर-बराबरी की अदृश्य पाठशाला
कर्म-फल का सिद्धांत

नंद चतुर्वेदी

इस प्रश्न के कई उत्तर हो सकते हैं कि गैर-बराबरी का पाठ कहां से शुरू होता है क्योंकि कोई ऐसा स्कूल नज़र नहीं आता, पोथी या टीचर जो गैर-बराबरी या असमानता की बाकायदा और लगातार शिक्षा देता हो। लेकिन जब भी घर से लगाकर दुनिया भर में तरह-तरह की विषताओं और गैर-बराबरी का उन्माद फैला है। गैर-बराबरी के खिलाफ अत्यंत उग्र और बड़े, हिंसक और शांत-अहिंसक, अविवेकपूर्ण और वैचारिक आंदोलन हुए हैं और आज भी उथल-पुथल तथा अराजकता के संकेत देते जनांदोलन का सिलसिला खत्म नहीं हुआ है तब भी गैर-बराबरी की दीवारें गिरी नहीं हैं और न सुरंग के उस पार कोई प्रसन्न करने वाला उजाला नज़र आता है।

विषमता, असमानता या गैर-बराबरी के विरुद्ध संघर्ष करते हुए भी यह जानकारी करना गैर-वाजिब नहीं है कि ये अदृश्य पाठशालाएं कौन-सी हैं जहां गैर-बराबरी के पाठ इस तरह पढ़ाए जाते हैं कि वे हमारे सिद्धांत और व्यवहार के हिस्से बन जाएं, इतने स्वाभाविक कि जिन पर बातचीत करना ही गैर-ज़रूरी था कि अपराध जैसे लगने लगे। लेकिन दुर्भाग्य से इन्हीं पाठशालाओं में गैर बराबरी के सिद्धांत-पाठ इतनी कुशलता और कट्टरता से पढ़ाए जाते हैं कि वे हमारी

आस्थाओं के बुनियादी आधार तथा अहंकारवादी मनोविज्ञान के अटूट हिस्से हो सकते हैं। यह कहना मुश्किल है कि आयु के किस पड़ाव पर गैर-बराबरी की स्थितियों का तीव्र दंश अनुभव होने लगता है। लेकिन सामान्यतया तो समझ की इस आयु के आने के पहले ही सामाजिक-व्यवस्था और संस्थाएं हमें रक्षात्मक कवच पहना देती हैं जिससे वह सुन्न पैदा हो जाए कि शोषण करने वाला और सहने वाला कोई प्रतिक्रिया करने से विमुख हो जाएं और दोनों को ही लगने लगे कि कुछ भी असामान्य, अन्यायपूर्ण और अमानवीय नहीं हुआ है। दोनों पक्षों की संवेदनाएं भोंथरी से जाने से उन्हें सबकुछ ठीक-ठाक, विधिवत्, समाज-सम्मत लगता चलता है। व्यवस्था की यह संवेदनाहीन स्वीकृति बाद में परंपरा हो जाती है जिस पर न विचार संभव होता है, न संवाद। दरअसल 'परंपरा' प्रभु-वर्ग के भाषा वंश का सबसे चालाक और अनेकार्थी शब्द है जो कई मुद्राएं अपनाकर स्थापित स्वार्थों का समर्थन करता है। अंत में गैर-बराबरी की अवधारणा परंपरा का ऐसा सर्वस्वीकृत हिस्सा हो जाती है जिसे भूलकर हम एक भाग्यवादी असहाय-सी ज़िंदगी ही जीते रहते हैं।

गैर-बराबरी के अनेक रूप देखकर क्या यह मान लिया जाना चाहिए कि वह मनुष्य प्रकृति का अनिवार्य हिस्सा है—आहार, निद्रा, भय, मैथुन की तरह, एक प्रवृत्ति, 'इन्स्टिंक्ट' और उसके खिलाफ सारा संघर्ष केवल एक कुतूहल, एक आनंददायी मनोकामना है? सामान्यतया तो सृष्टि की या प्रकृति के रचाव की अनेक बहुलताएं और भौगोलिक विषमताएं हमें असहज नहीं बनातीं और यहीं से मानवीय-सृष्टि की गैर-बराबरी या असमानताओं को समझने का, सहन करने का अभ्यास हम शुरू कर देते हैं। वैसे ध्यान से देखे तो गैर-बराबरी की कुरूपताएं और विकृतियों को प्रकृति की विकृतियों की तरह देखने का सिद्धांत हमें काफी तसल्ली देता है और ईश्वरीय इच्छा का शांत और गंभीर तर्क सारी मानवीय बैचेनियां दूर कर देता है। ऐसी ही कुछ मनोदशा में हमने गैर-बराबरी के अमानवीय सिद्धांत के प्रति पूरी असहमति दिखाते हुए भी चालाकी के साथ मोक्ष और 'कर्म-फल' का सिद्धांत भी बना लिया है। यह पुनर्जन्म का कारण-रूप सिद्धांत भी है। पूर्व-जन्म के अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगने के लिए ही बार-बार जन्म होता है। यह जन्म किस जाति में होगा, किस कुल में, किन परिस्थितियों में यह सब पूर्वनिर्धारित और कर्मफल का भोग है। इस मान्यता के अनुसार इस जन्म का सुख-दुख, जात-कुजात, रंग-रूप, गरीबी-अमीरी, शिक्षा-कुशिक्षा सब पूर्व-जन्मों का हिसाब-किताब चुकता करने के लिए है।

व्यवस्था की सारी धूर्तताओं को संरक्षण देता हुआ यह सिद्धांत ईश्वरीय इच्छा से रची हुई इस ऊबड़-खाबड़ और विषमताओं के बीच बनी हमारी बेरहम दुनिया को सामान्य सा बना देता है। तब हम उन सब मर्माहत करने वाली विद्रूपताओं को बदलने की कोशिश तक को भी छोड़ देते हैं। हमारी जानी-पहचानी सुख-दुख की दुनिया 'राम की रचना' में बदल जाती है। तब गैर-बराबरी की दुनिया भी राम की रची हुई, तर्क और न्याय संगत लगने लगती है। सामान्य-आदमी के विश्वासों में यह बंटी हुई, विभाजित, 'फ्रेक्चर्ड' दुनिया विश्वसनीय हो जाती है। मेरी मां ने सारी दलीलों को सुनकर पूरे आत्म-विश्वास से भरकर हाथ (पंजा) दिखाते पूछा था, "सब अंगुलियां बराबर हैं क्या?' मेरे उत्तर देने के पहले हमारी अधेड़ बाई बोली, "नहीं, माताजी, जैसे हाथ की पांचों अंगुलियां छोटी-बड़ी हैं ऐसे ही दुनिया छोटे-बड़े, गरीब-अमीर, काले-गोरे, जात-बिरादरी, मरद-लुगाई, लल्ला-लल्ली में बंटी है। सबको अपनो-अपनो नसीब है। अपने-अपने करमन को फल है।" यह एक सर्वमान्य विश्वास है; व्यवस्थावादियों के सारे तर्कों को चकनाचूर करता हुआ। शिक्षक और संत कवि तुलसीदास इस पर मुहर लगाते हैं, "होइहिं जाहि राम रचि राखा, को करि तरक बढ़ावहिं साखा।" उनके अनुसार सबकुछ पहले से बना है इसमें कोई भी तर्क-वितर्क करके क्या घटा-बढ़ा लेगा? एक पूरी असंगत आपाधापी की विभाजित दुनिया के लिए कवि तुलसीदास का मत है कि वह राम की रची है कोई तीसमार खां क्या कर लेगा?

हम देखते हैं कि कर्म-फल का सिद्धांत लोक-विश्वास

का अचल हिस्सा है, यद्यपि कोई नहीं जानता कि इस विशाल जनसंख्या के कर्मों का ब्यौरा कैसे तैयार होता है और पुनर्जन्म का निपटारा कब होता है? इतनी आकस्मिताओं की धुंध में लिपटकर भी विभाजित-दुनिया के लिए कर्म-फल-भोग एक अखंड सनातन-सा विश्वास बना रहता है। ज्ञान कोई मदद नहीं करता। ज्ञान के हाथ में सृष्टि-रचना नहीं है। ज्ञानी से पूछा जाता है कि सृष्टि किसने बनाई है तब कोई असंदिग्ध उत्तर नहीं मिलता और यहीं से एक अदृश्य रचनाकार आविर्भूत होता है। वही मनुष्य-सृष्टि बनाता है। यह सृष्टि दुविधा या सुविधाग्रस्त, भेदों में बंटी या भेदातीत वह राम की या ईश्वर की रचना है। ज्ञानी को ललकारते हुए कबीर ने कहा, "जो कर्म की गति थी यह तो नहीं टली न! वशिष्ठ जी महाराज! आप तो बड़े पंडित ज्ञानी थे, नक्षत्रों का योगायोग देखकर शुभ मुहूर्त्त में आपने राम-जानकी का विवाह कराया था पर क्या हुआ? सीता का हरण हुआ, दशरथ की मृत्यु, वन में विपत्तियां ही विपत्तियां! क्या हुआ महाराज? कर्म की गति नहीं ही टली।" अनेक प्रकार की और अतर्क-संगत आकस्मिकताओं से भरी समाज-रचना पर कबीर हतप्रभ, नाराज़ और उदास होकर कहते हैं–

करमन की गति न्यारी, मोरे रामा!
वैस्या ओढ़ै साल, दुसाला, पंडित भये भिखारी, मोरे रामा।
बड़े-बड़े पंख दिये बगुला के, कोयल, करदीनी कारी, मोरे रामा।

बहरहाल, इस तरह 'कर्म-फल' भोगने का विश्वास हमारी सामाजिक-आस्था का व्यापक और अनिवार्य हिस्सा हो जाता है। देखने की बात है कि कर्म-फल के सिद्धांत का कोई समुचित ज्ञान-शास्त्र नहीं है और न कर्मों की कोई निर्णायक तालिका है, तब भी शिक्षित-अशिक्षित के मन में कर्म-फल भोगने को लेकर कोई गहरी उदासी या जिज्ञासा नहीं है। हिंदू-मन में यह सिद्धांत ईश्वरीय न्याय का प्रतीक है। कभी-न-कभी, किसी-न-किसी जन्म में तो शुभ-अशुभ का पुरस्कार या दंड मिलेगा। लोक-विश्वास है कि ईश्वर के यहां देर है पर अंधेर नहीं है।

यह तथ्य रेखांकित किया जाना चाहिए कि कर्मफल के सिद्धांत की स्वीकृति के साथ हमें ऊंची-नीची-जात और अमीरी-गरीबी के बीच का भयावह अंतर काले-गोरे का रंग-भेद, स्त्री-पुरुष और लड़के-लड़की के प्रति व्यवहार की दुमुंही कपट नीतियां सात्विक और निरामिष लगने लगती हैं और दुनिया भर की गैर-बराबरियां और अन्याय भाग्य का खेल और न्याय-संगत हो जाते हैं। सारे कष्ट, दुख-दुविधा, भूख, रोग, शोक, शरीर-मन-आत्मा के संताप, प्रकृति की विनाशलीलाएं सामाजिक अवहेलनाएं अनादर, व्यवस्था की विसंगतियां, शोषण-पराधीनता सब अपने ही अशुभ कर्मों का स्वाभाविक और औचित्य-पूर्ण दंड-विधान हो जाता है। हम ही सोचने लगते हैं शुभ कर्म करने वालों को सुख-समृद्धि और खूबसूरत दुनिया कभी-न-कभी तो मिलनी चाहिए। ऊंची जात, कुल, पद, प्रतिष्ठा और असंख्य अनायास मिलने वाली अनुकूलताएं उनके शुभ कर्मों का उपार्जित प्रतिफल हो जाती हैं।

दुनिया भर के लोग 'कर्म-फल' के इस सिद्धांत को धर्म की अदृश्य पाठशालाओं में पढ़ते हैं और गैर-बराबरी को अघोषित स्वीकृति देते हैं। हमें नज़र नहीं आती हों, नहीं भी आती हैं लेकिन हमारी असली लड़ाई उन धार्मिक संस्थानों की अदृश्य पाठशालाओं से ही है जहां सहस्रों अखाड़े, मठ, मस्जिद, चर्च, धर्म-पीठें बराबरी के विरुद्ध 'धर्म का मार्केटिंग' कर रही हैं और हिंसा, हत्या के फतवे बांट रही हैं।

हम भी सारी प्रगतिशीलता के साथ एक अदृश्य धार्मिक स्कूल, बराबरी के विरुद्ध प्रार्थना की कोई किताब साथ रखते हैं जिसका नाम 'बाज़ारवाद' है और जो हमें अपनी प्राइवेट दुनिया को मोहक बनाना सिखाती है।